

समूह-लय से तरंगित कवि रामदरश मिश्र

डॉ. नियाज़ ए. पठान
आसिसटन्ट प्रोफेसर (हिन्दी)
एम. एन. कॉलेज, विसनगर ।

रामदरश मिश्र हिन्दी के एक ऐसे महत्वपूर्ण कवि हैं, जिनका काव्य-दीपक अपने समय के गहन अंधकार में उजाले की एक पतली सी सुरंग बनाता हुआ पिछले छ-सात दशकों से निरन्तर जल रहा है । यह दीपक प्रज्वलित हुआ था सन् 1951 में 'पथ के गीत' काव्य-संग्रह से । और अब तक उनके लगभग 15 काव्य-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं । नई कविता के दौर से कविता लेखन की सही दिशा प्राप्त करने वाले मिश्रजी किसी वाद या विचारधारा की कंठी पहनकर नहीं चले हैं । वैसे, वैचारिक रूप से उनकी मार्क्सवादी निष्ठा जाहिर है परन्तु एक अन्तर्दृष्टि के रूप में इस विचारधारा को अपनाने के कारण कहीं भी उनकी कविता पर मार्क्सवाद हावी नहीं हुआ है । प्रामाणिक अनुभूति में विश्वास रखने वाले मिश्रजी समग्र काव्य-यात्रा के दौरान अपने परिवेश से जुड़े रहे हैं । क्षेत्रीय कवि कहलाने का खतरा मोड़ लेकर भी उन्होंने कभी अंतर्राष्ट्रीय चेतना का कवि बनने की आकांक्षा नहीं रखी है । अपने 'शब्द सेतु' काव्य-संग्रह की भूमिका में कवि लिखते भी हैं -'एक देश अपनी बुनियादी मानवीय भूख-प्यास में दूसरे देश से कहाँ अलग है ? तो क्या अपने परिवेश को अधिक गहराई और इमानदारी से पहचान लेना विश्व मानव को पहचान लेना नहीं होता ?' जाहिर है कि कवि रामदरश मिश्र अनुभव के आधार पर अपनी जमीन से गहरे जुड़े रहे हैं । वह जमीन गोरखपुर के डुमरी गाँव की भी है, बनारस और अहमदाबाद जैसे नगरों की भी है तो दिल्ली जैसे महानगर की भी ।

मिश्रजी की दीर्घ काव्य-यात्रा से जब हम गुजरते हैं तब पाते हैं कि गाँव और गाँव के जीवन की समस्याएँ, सामाजिक विषमताएँ, प्रकृति के अनगिनत रूप, महानगरीय जीवन की विसंगतताएँ जिस तरह से उनकी पूर्व की कविताओं में व्यक्त होती रही हैं ठीक उसी तरह से कुछ बदले हुए संदर्भों में उनकी हाल की कविताओं में भी शब्दबद्ध हुई हैं । उन्होंने एक जगह लिखा भी है- 'मेरे अनुभवों की यात्रा अत्यन्त अंतरंग 'स्व' से लेकर बृहत्तर सामाजिक यथार्थ तक है ।' उनकी ताज़ा कविताओं में भी इस सामाजिक यथार्थ का व्यापक चित्रण मिलता है । तकलीफ के काँटों से जगह-जगह फटी हुई माँ की फटन सीने के लिए और भूख के बोझ से झुके हुए लाचार बापू की कमर सीधी करने के लिए अपना गाँव-घर छोड़कर शहर में मशीन बन जाने वाले बच्चे का यह करुण चित्र 'बचपन' कविता में मिलता है-

शहर में

अपनों से दूर निपट अकेला, असहाय

ढो रहा है कितनी क्रूर आँखें

कितने सख्त हाथ

कितने अक्षील शोर
वह धीरे से चिल्लाया- 'माई रे' ।
"क्या कर रहा है रे साला
रोता ही रहेगा तो
ये बर्तन कौन साफ करेगा तेरा बाप ?"
वह उठा और फिर मशीन बन गया
कैसा है यह बचपन
जो मार खाकर रो भी नहीं सकता ?

मिश्रजी की कविता में जीवन की विषमताओं के प्रति उदासीन बनकर और जनता के नाम पर बहुत कुछ पा जाने वाले तथाकथित भारतीय जन चेतना के प्रख्यात कवि भी हैं तो हाथों में लुकाठियाँ लेकर कबीर के वारिस होने का दावा करते हुए भी अपने घर को फूँकने का समय आने पर पलायन कर जाने वाले महामानव भी ।

कवि ने आज़ादी से आम आदमी के मोहभंग को देखा है । सपना तो यह था कि हर गाँव, हर शहर विषमताओं के अँधेरे से मुक्त होकर नयी रोशनी प्राप्त करेगा । परन्तु हुआ यह कि कुर्सियों पर आदमी नहीं, आदमी पर कुर्सियाँ राज करने लगी हैं । ऐसे में इक्कीसवीं शताब्दी के आगमन से भी कवि को क्या उम्मीद हो सकती है ?

में सोचता हूँ
दो ही साल तो बाकी हैं उसके आने में
इनके पार
क्या सपनों का
कोई ऐसा लोक जागेगा
जिसे हम नहीं जानते ?
क्या आदमी पर कुर्सियों की जगह
कुर्सियों पर आदमी बैठने लगेंगे ?
क्या धर्म के हाथों में चीखती लुकाठी
हँसते चिराग में बदल जाएगी ?
यदि ऐसा है तो
हमें बेचैनी से इन्तज़ार है

नयी शताब्दी का

लेकिन यदि मनुष्य पर ही सबको सवार होना ही है

तो क्या बीसवीं शताब्दी

क्या इक्कीसवीं शताब्दी ?

कवि को बेचैनी से इन्तज़ार है कि कुर्सियों पर आदमी बैठे । धर्म की लुकाठी लिए मनुष्य पर सवार हो रही इस सभ्यता से कवि चिंतित है । सहज अंदाज में व्यक्त आम आदमी के जीवन के साथ की यही प्रतिबद्धता मिश्रजी के कवि की उल्लेखनीय विशेषता है ।

अपने समय के यथार्थ की भयंकरता को व्यंग्य के द्वारा स्पष्ट करना भी मिश्रजी की एक खासियत रही है । विदेशी चीज़ या विचारधारा के प्रति व्यापक ललक आज़ादी के बाद के वर्षों का कटु सत्य है । 'सागर पार से' कविता में मिश्रजी ने इसी तथ्य को बड़े ही तीखेपन के साथ उभारा है-

सागर पार से एक घोषणा गुँजी

सुनो सुनो- "यह उत्तर आधुनिक युग है

अब सब कुछ का अन्त हो गया है ।"

इस पार के लोगों ने सुना

और चौंक कर बोले-

"अरे हमें अब तक पता ही नहीं था"

फिर स्वर में स्वर मिलाकर चिल्लाने लगे

हुआँ.....हुआँ.....

उत्तर आधुनिकता के नाम पर हो रही इस 'हुआँ हुआँ' से जीवन का एक भी क्षेत्र अछूता नहीं है । क्या सब कुछ का अन्त संभव है ? 'सागर पार से' कविता पाठक को ऐसे कई सवालों से रूबरू करते हुए फिर से सोचने पर मजबूर करती है ।

अपने परिवेश से गहराई से जुड़े रहने के कारण मिश्रजी का कवि उस परिवेश के प्राकृतिक सौन्दर्य, उसकी भयावहता, उसके संघर्ष को भी जीता रहा है । अपने एक काव्य संग्रह की भूमिका में मिश्रजी ने कहा भी है- "मेरी रचनाओं में जो बिम्ब बार-बार आते हैं उनमें सूर्य और जल सम्बन्धी बिम्ब प्रमुख है ।" मिश्रजी की बाद की कविताओं में भी प्रकृति के ये उपकरण नयी अर्थच्छाया धारण करते हुए आद्यन्त छाए रहे हैं । जो सूर्य कभी लहलहाती फसलों को पकाता था और खेतों में काम कर रहे किसानों के सिर पर चढ़कर उन्हें जलाता था, वही सूर्य यहाँ कभी माँ की ममता भरा उष्म हाथ बन जाता है तो कभी पिता से प्राप्त हुई विरासत बनकर उपस्थित होता है-

दिनारंभ में

तुमने जो सूर्य का प्रकाश दिया था पिता

और कहा था

प्रकाश बाँटने के लिए होता है

उसे लिए-दिए खो गया हूँ अँधेरे के घने जंगल में

यहाँ लोग अँधेरे से प्यार करते हैं ।

कवि महानगर में जी रहा है । ऐसे मे जब भी उसे प्रकृति का सानिध्य मिलता है उसकी साँस में गेंदे के फूल खिल उठते हैं, रोम-रोम में फागुनी नदी का स्पर्श उग आता है । अभी भी कवि की आँखों को फूल, पत्ते, मौसम, ऋतुएँ खींचती रहती हैं और कवि उनसे संवाद करते हुए महकने लगता है । अपनी छोटी-सी फूलवारी के कोने में एक फूली हुई सरसों को देखते ही कवि पुकार उठता है-

हाँ सरसों

गमले में खिले हुए एकाकी फूल का नाम नहीं है

वह समूह-लय से तरंगित बहार है

मेरी प्यारी सरसों,

तूने आज बहुत दिनों बाद

बसन्त को केलेण्डर से खींचकर

फैला दिया है जीवन के अनन्त विस्तार में ।

मिश्रजी की कविता में आज़ादी के बाद का गाँव बार-बार आता रहा है । महानगर के चिकने पत्थरों के बीच जब कवि घूटन महसूस करने लगता है तब वह गाँव की मैली पगडंडियों से लौट आता है अपने देश । पहले जहाँ कवि ने गाँव की धूल, खेत, कच्चे रास्ते, मिट्टी के मकान, खपरैल, कछार आदि का वर्णन किया है वहाँ बाद की कविताओं में गाँव के बदलाव को अभिव्यक्ति दी है । अब जब कवि अपने गाँव लौटता है तो देखता है कि खपरैल की जगह पक्की छत बन गई है । मरियल बैलों की जोड़ी की जगह ट्रैक्टर आ गया है । शायद कवि को यह बदलाव रास नहीं आ रहा है । वह ढूँढता है पुराना गाँव, पुराना घर । फिर भी कवि निराश नहीं है, आश्वस्ति की एक महीन ज्योत उसके भीतर प्रज्वलित प्रतीत होती है-

बावला मन उदास हो गया

मैंने देखा-

एक ताख में

रामचरित मानस की पोथी अभी भी रखी

हुई थी

में खुश होकर चिल्लाया

ओ बावला मन

उदास मत हो

देख यह पोथी बची है

तो अभी बहुत कुछ बचा हुआ है ।

यही आश्चस्ति, यही सहजता मिश्रजी की कविता का प्राणतत्व है ।

यह अलग बात है कि इस सहजता को सरलता मानकर हिन्दी आलोचकों ने कवि रामदरश मिश्र की उपेक्षा ही अधिक की है । डॉ. रघुवीर चौधरी ने बहुत पहले लिखा था कि- “सातवें-आठवें दशक की हिन्दी कविता की उपलब्धियों का संपूर्ण लेखा-जोखा तैयार होने पर रामदरश मिश्र जैसे कवि हाशिये से हटकर उन मूर्धन्य कवियों के बीच लक्षित होंगे, जिन्होंने अपने संवेदनघन बिम्बों के द्वारा सहृदयों से सीधा संपर्क स्थापित किया है ।” मैं मानता हूँ कि ऐसा लेखा-जोखा तैयार होना अभी भी बाकी ही है ।
